शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

मार्गशीर्ष : २४८२ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक आठवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

❀ दुःख का कारण ❀

आत्मा तीनों काल परवस्तुओं से पृथक् है, इसलिये कोई भी बाहरी साधन आत्मा को सुख-दुःख के कारण नहीं हैं; किन्तु अज्ञानी परसंयोगों में—यह मुझे अनुकूल और यह प्रतिकूल – ऐसा मानकर उनमें मोह से राग-द्वेष करता है, वही संसार परिभ्रमण के दुःख का कारण है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१२८

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सुवर्णपुरी में मंगल बधाई

[श्री जिनमंदिर शिलान्यास]

श्री जिनेन्द्रदेव के परम भक्त परम पूज्य सद्गुरुदेव के पुनीत प्रभाव से सनातन सत्य श्री दिगबंर जैनधर्म की दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही है। गुरुदेव की वीतराग तत्वबोधक वाणी से प्रभावित, भारतवर्ष से अनेक मुमुक्षुओं ने सत्समागम के हेतु यहाँ सोनगढ़ में निवास किया है; और दिन-प्रतिदिन सत्समागमार्थ मुमुक्षुओं की संख्या बढ़ती रहती है... यहाँ के जिनमन्दिर में नित्यनैमित्तिक पूजन-भक्ति आदि कार्यों के लिये स्थानाभाव के कारण मुमुक्षुओं की बहुत दिनों से यह भावना था कि हमें अपने मन्दिर को बड़ा बनाना चाहिए। अतः यहाँ के मन्दिर को विशालकाय, उन्नत शिखरबद्ध बनाने का निश्चिय हुआ है।

श्री जिनमन्दिर नवनिर्माण की शिलान्यासविधि मगसिर कृष्णा ५, रविवार को भक्तों के मंगल गीत और जिनेन्द्रदेव के गगनभेदी जयनादों के बीच अत्यधिक आनन्दोल्लासपूर्वक संपन्न हुई। शिलान्यासविधि के अवसर पर मुमुक्षुसंघ का आनंद अनुपमेय था। जिनमन्दिर के बाहर शिलान्यास के स्थल पर, श्री जिनेंद्रदेव तथा श्री विनायकयंत्र की स्थापना की गई थी। प्रथम भगवान का अभिषेक और पूजन करके, शिलान्यासविधि शास्त्रोक्त ढँग से, मुमुक्षुओं के गगनभेदी हर्षनादों के बीच, परम कृपालु गुरुदेवश्री के सन्मुख की गई थी। मुहुर्तविधि के अवसर पर नींव में रखे जानेवाले ताम्र कलश और प्रशस्ति लेखमालावाले ताम्रपत्र पर पू. गुरुदेवश्री के महा मंगलकारी करों से श्री स्वस्तिविधान हुआ था। पूज्य गुरुदेव के करों से स्वस्तिविधान होता था, उस मंगल प्रसंग का दृश्य अति भावयुक्त था; उस दृश्य को निहारकर मुमुक्षु हृदय आनंद से नाच उठे थे और जयध्वनि से गगन गूंज उठा था।

शिलान्यास की मंगल विधि मुमुक्षुसंघ के निवेदन से परम पूज्य भगवती बेनश्रीबेनजी के मंगल करों से तथा जसाणी श्री आणंदभाई, उनकी धर्मपत्नी जयालक्ष्मीबहन और वसंतभाई के हाथों हुई थी....

त्रिकाल जयवंत वर्ते परमोपकारी गुरुदेव का बाह्यांतर वैभव, कि जिनकी सत्कृपा से हमें श्री जिनेन्द्रदेव, जिनालय और आत्मदेव की प्राप्ति हुई!!

जय हो, विजय हो श्री सीमंधर भगवान की!

जय हो, विजय हो श्री सीमंधर जिनालय की!!

जय हो, विजय हो शासनस्तंभ भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव की!!

जय हो, विजय हो सद्धर्मप्रभावक श्री कहान गुरुदेव की!!

आत्मधर्म

मार्गशीर्ष : २४८२ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक आठवाँ

संसारभ्रमण का मूलकारण और उसके छेदन का उपाय

अरे, चैतन्य आत्मा!! तूने अन्य बाहरी प्रयोग किये, किन्तु सत्समागम से चैतन्य की समझ का यथार्थ प्रयोग पहले कभी नहीं किया। इसलिये हे भाई! अब जागृत होकर सत्समागम से आत्मा की समझ का प्रयत्न कर, ताकि तेरे भवभ्रमण का अंत आ जाये।

[जेतपुर शहर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन : माघ शुक्ला ८, वीर सं. २४८०]

सर्वज्ञ भगवान ने देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा को जैसा जाना और कहा है, वैसी ही पहिचान के बिना जीव अनादि से संसार में दु:खी है। वह चैतन्यस्वरूप आत्मा, मोही-अज्ञानी जीवों को दुर्गम्य है और निर्मोही-धर्मात्माओं को उसका बोध होता है। अज्ञानी तो देह और रागादि को ही अपना स्वरूप मानता है; इसलिये देह से और राग से भिन्न चैतन्यस्वरूप उसे दुर्गम्य है। यह शरीरादि तो अचेतन हैं, उनसे आत्मा पृथक् है, और रागादि भावों से भी आत्मा का चैतन्यस्वभाव पृथक् है। जैसा सिद्ध परमात्मा का स्वभाव है, वैसे ही स्वभाववाला आत्मा इस देह में विद्यमान है; सिद्ध भगवान में और इस आत्मा के स्वभाव में परमार्थत: कोई अन्तर नहीं है; जितना सामर्थ्य सिद्ध भगवान के आत्मा में है, उतना ही सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में भरा है। सिद्ध परमात्मा अपने स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति करके उसमें लीनता द्वारा पूर्ण ज्ञान—आनन्द प्रगट करके मुक्त हो गये हैं

और अज्ञानी जीव अपने स्वभावसामर्थ्य को भूलकर रागादि में ही अपनापन मानकर संसार में भटकते हैं।

अज्ञानी जीव, जगत से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप को चूककर, देश का-पर का-घर का और शरीरादि का कार्य करने के अभिमान में अटक जाता है, और यदि धर्म के नाम पर आगे बढ़े तो दया-व्रतादि के शुभरागरूप व्यवहार में धर्म मानकर वहाँ अटक जाता है; किन्तु शरीरादि की क्रिया से भिन्न और शुभराग से भी पार, ऐसे अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का लक्ष नहीं करता, इसलिये उसके जन्म-मरण के दु:ख का अन्त नहीं आता। अनादिकाल में पुण्य किये, तथापि जीव, संसार में ही भटका है तो उस संसार का मूलकारण क्या है, वह जानकर उसे टालने का उपाय करना चाहिये। अनंतवार पुण्य करने पर भी जीव का संसार परिभ्रमण नहीं रुका; इसलिये निर्णय करना चाहिये कि पुण्य, संसारभ्रमण से छूटने का उपाय नहीं है। वीतरागी चैतन्यस्वभाव को भूलकर पर से या पुण्य से आत्मा को किंचित् भी धर्म का लाभ होता है—ऐसी मिथ्यामान्यता ही संसार भ्रमण का मूलकारण है। चैतन्यस्वभाव की पहिचान करके उस मूलकारण का छेदन किये बिना जीव दूसरे जो भी उपाय करता है, वे सब संसार के कारण होते हैं।

अन्तर के चिदानन्दस्वभाव को पहिचानकर उसमें एकाग्रता से राग को हटाकर जिन्होंने सर्वज्ञता प्रगट की, उन सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि में ऐसा उपदेश आया कि—अरे आत्मा! तूने अपने असली स्वभाव की ओर कभी दृष्टि नहीं की; तेरा आत्मा एक समय में परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दस्वभाव से भरा है; उसे पहिचान कर उसकी प्रीति कर; अंतर आत्मा में एकाग्र होने से राग दूर हो जाता है और सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है; इसलिये राग तेरा सच्चा स्वरूप नहीं है किन्तु पूर्णज्ञान ही तेरा स्वरूप है।—इस प्रकार राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करना, वह मुक्ति के उपाय का प्रथम सोपान है।

आत्मा त्रिकाल परवस्तुओं से पृथक् है, इसलिये कोई भी बाह्य साधन आत्मा को सुख-दु:ख के कारण नहीं हैं; किन्तु अज्ञानी पर संयोगों में—यह मुझे अनुकूल और यह प्रतिकूल—ऐसा मानकर उनमें मोह से राग-द्वेष करता है वही संसारपरिभ्रमण के दु:ख का कारण है। अनादिकाल से संसार में भटकते हुए जीव, पुण्य करके स्वर्ग में भी गया और पाप करके नर्क में भी गया; महान राजा भी अनंतबार हुआ और रंक-भिखारी भी अनन्तबार हुआ; किन्तु 'मैं कौन हूँ—मेरा ज्ञानानन्दस्वभाव क्या है'—यह बात उसने कभी लक्ष में भी नहीं ली। आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप

है; उसमें अनंत गुण होने पर भी, वह अभेदस्वरूप एक है; गुण-भेद के विकल्प से भी पार होकर एक अभेदस्वरूप आत्मा की प्रतीति करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन धर्म है। एक समय का सम्यग्दर्शन, अनन्त जन्म-मरण के मूल को छेद डालता है। अंतर के चिदानन्दस्वभाव की पहिचान करके ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन अनादिकाल से जीव ने एक क्षण भी नहीं किया। अन्य सब कुछ कर चुका;—शुभभाव से व्रत-तप-पूजा और त्याग किये, किन्तु 'मैं स्वयं चैतन्यज्योति भगवान हूँ'—ऐसे आत्मभान के बिना एक भी भव कम नहीं हुआ।

सत्समागम से चैतन्य की समझ का यथार्थ प्रयोग भी जीव ने कभी नहीं किया। अरे! चैतन्य आत्मा! तुझे अनन्तकाल में ऐसा मनुष्य अवतार मिला, उसमें तूने बाहर के अनेक प्रयोग किये, किन्तु अंतर में अपना ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा क्या वस्तु है, वह समझने का प्रयोग अपने ज्ञान में कभी एक क्षण भी नहीं किया और मनुष्य अवतार व्यर्थ ही गँवाकर फिर संसार में ही भटका। इसलिये हे भाई! अब जागृत होकर सत्समागम से आत्मा की समझ का प्रयत्न कर, जिससे तेरे अनादिकालीन भवभ्रमण का अन्त आ जाये।

आत्मा अपनी ही भूल से संसार में भटका है और अपनी ही समझ से पार होता है; किसी दूसरे ने उसे परिभ्रमण नहीं कराया है और न दूसरा कोई उसे तारता है। भूल करने में स्वयं स्वतंत्र है। भूल तो क्षणिक विकृति है, वह दूर हो सकती है; और भूलरहित स्वभाव नित्यस्थायी है; उस स्वभाव में अन्तर्लक्ष करने से अनादिकालीन भूल दूर होकर अपूर्व ज्ञानदशा प्रगट होती है। अज्ञानभाव और हिंसा या दया का भाव तो क्षणिक विकृति है, आत्मा में वे सदैव रहनेवाले नहीं हैं; आत्मा का नित्यस्थायी चिदानन्दस्वभाव है, उसमें उनका अभाव है। जीव ने अनादिकाल से क्षणिक विकार की ओर ही देखा है, किन्तु जिसमें विकार का अभाव है, ऐसे अपने नित्यस्थायी चिदानन्दस्वभाव की ओर कभी नहीं देखा। अन्तर्मुख होकर स्वभाव की समझ करना, वह अपूर्व है। इसके सिवा पूर्व अनंत भव में जो किया है, वह कुछ अपूर्व नहीं है।

मेरा आनन्द मुझमें ही है—इस प्रकार अपने स्वभाव की प्रतीति जीव को नहीं आती; इसलिये बाहर के अनुकूल संयोगों में से वह आनन्द लेना चाहता है; इसलिये वह अपने उपयोग को बाहर का बाहर ही घुमाता है किन्तु उसे अन्तरस्वभावोन्मुख नहीं करता। जिस प्रकार कस्तूरीमृग की नाभि में से ही सुगन्ध आती है; उसे अपनी सुगन्ध का विश्वास नहीं आता, इसलिये बाह्य में से सुगन्ध आ रही है—ऐसा मानकर बाहर भटकता है। उसी प्रकार आनन्द तो आत्मा के

स्वभाव में ही भरा है; सिद्ध भगवन्तों को जिस आनन्द का अनुभव है, वह आत्मा में से ही प्रगट हुआ है और इस आत्मा के स्वभाव में भी वैसा आनन्द भरा है, किन्तु अनादिकाल से जीव को अपने स्वभाव का विश्वास नहीं आता; इसलिये बाह्य में और राग में आनन्द मानकर भववन में भटकता है। उसे ज्ञानी समझाते हैं कि अरे भाई! तू शांत हो, शांत हो! तू कौन है, उसकी पहिचान कर। जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसी ही तेरे आत्मा की जाति है; तेरा आत्मा स्वयं ही आनन्द से परिपूर्ण है। यह शरीर तो जड़-पुद्गल का पुतला है, उसमें कहीं भी तेरा आनन्द नहीं है; और राग में आकुलता है, उसमें भी तेरा आनन्द नहीं है! तेरा अविकारी चिदानन्द आत्मा ही आनंदस्वरूप है, इसलिये उसी में अपने आनन्द को ढूँढ़। पहले ऐसे आत्मा के सन्मुख होकर उसकी सम्यक् प्रतीति करने से निर्विकल्प आनंद का अंश अनुभव में आता है। ऐसी प्रतीति ही पूर्णानन्दरूप मोक्षदशा की प्राप्ति का प्रथम सोपान है।

इस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की सच्ची समझ करना ही ज्ञान की अपूर्व कला है; इसके सिवा सांसारिक चतुराई की कला से आत्मा को कोई लाभ नहीं है। बाह्यकला भले न आये, किन्तु जिसने अन्तर की चैतन्यकला जानी, वह जीव, मोक्ष के पंथ में है और जिसने अन्तर की चैतन्यकला नहीं जानी, वह भले ही अन्य चाहे जितनी कलायें जानता हो, तथापि वह मोक्ष के पथ पर नहीं है। देखो, अनेक शास्त्र पढ़ ले और खूब अध्ययन कर ले, तभी यह बात समझ में आती है—ऐसा नहीं है; अन्तर में पात्र होकर प्रयत्न करने से आठ-आठ वर्ष के बालक भी यह बात समझ जाते हैं और अपूर्व आत्मकल्याण प्राप्त कर लेते हैं। महाविदेहक्षेत्र में इस समय भगवान सीमंधर परमात्मा अरिहंतरूप से विराज रहे हैं; वहाँ भगवान की धर्मसभा में आठ-आठ वर्ष की राजकुमारियाँ भी यह बात समझती हैं। भगवान की वाणी सुनते ही अंतर में उतर जाती है कि अहो! हम तो आत्मा हैं; यह जो देह है, सो हम नहीं हैं; इस देह से भिन्न चिदानन्दस्वरूप हैं।—इस प्रकार अंतर में उतरकर आत्मा का अनुभव करने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की अपूर्वकला विकसित होती है। जहाँ ऐसा अपूर्व आत्मभान हुआ, वहाँ धर्मी जीव बाह्य संयोगों के ठाठ से अपने चैतन्य की शोभा नहीं मानते; शरीर की शोभा हमारी शोभा नहीं है; हमारी शोभा तो हमारे स्वभाव से है। जिस प्रकार मृतक कलेवर को चंदन की सेज पर सुलाओ और सुगन्धित फूलों के हार पहिनाओ, किन्तु उसमें वह कहीं शोभा नहीं मानता; उसी प्रकार जिनके अन्तर में से मोह का नाश हो गया है—ऐसे धर्मात्मा, शरीर से या राग से अपनी शोभा नहीं मानते; अपने चैतन्यस्वभाव की शोभा के निकट

अन्य सभी पर से उनकी दृष्टि उठ गई है। अज्ञानी तो अपने चैतन्यस्वभाव की शोभा को चूककर पर को अच्छा मानता है; पर से मेरी शोभा है, यानी मैं तो सत्वहीन हूँ—इस प्रकार वह अपने आत्मा को तुच्छ मानता है। किन्तु भाई! विचार तो कर कि तू पर को बड़प्पन देता है, तो क्या तुझमें स्वयं में कोई महानता है या नहीं? पर को जानने से "यह अच्छा है"—ऐसा तू मानता है, किन्तु उसे जाननेवाला तो तेरा ज्ञान है, उस ज्ञान में कोई अच्छाई है या नहीं? भगवान! तेरी शोभा तो तेरे ज्ञानस्वभाव में ही है। अरिहंत और सिद्ध भगवन्तों को जो परमात्मदशा प्रगट हुई है, वह कहाँ से आई? आत्मा में से प्रगट हुई है या बाहर से आई है?—आत्मा में ही परमात्मदशा प्रगट होने की शक्ति है; तेरे आत्मा में भी वैसी शक्ति भरी है; उसी में तेरी शोभा और महानता है। जहाँ अन्तर में ऐसे आत्मस्वभाव का भान हुआ, वहाँ धर्मी की दृष्टि और रुचि पलट जाती है। जिस प्रकार कुंवारी कन्या, बाप के घर की सम्पत्ति को अपना कहती है; उसके पिता के पास करोड़ों की जायदाद हो तो वह भी कहती है कि हम करोड़पति हैं; किन्तु जहाँ उसकी सगाई हुई कि उसकी दृष्टि पलट जाती है; वह जान लेती है कि यह पिता के घर की संपत्ति मेरी नहीं है, किन्तु जहाँ मेरी सगाई हुई है, उस घर की सम्पत्ति मेरी है। अभी रहती तो पिता के घर में है, किन्तु उस घर की सम्पत्ति को अपना नहीं मानती। देखो, सगाई हुई कि एक क्षण में दृष्टि बदल गई। उसी प्रकार अज्ञानी जीव अनादिकाल से अपने चैतन्यस्वभाव की सम्पत्ति को भूलकर राग और संयोग को अपनी संपत्ति मानता था; किन्तु जब सत्समागम द्वारा श्रवण करने से अन्तर के चिदानन्दस्वभाव के साथ सगाई की, तब एक क्षण में उसकी दृष्टि पलट जाती है कि मैं तो चैतन्य हूँ, मेरे ज्ञान-आनन्द की सम्पत्ति मुझमें ही है; पर में मेरा सुख नहीं है और पर से मेरी शोभा नहीं है; मेरी शोभा और मेरा सुख तो मेरे आत्मा में ही है। अभी बाह्य में संयोग और राग वर्तते हैं, तथापि धर्मी को उनका स्वामित्व छूट गया है; धर्मी अपने चिदानन्दस्वभाव के सिवा राग का या संयोगों का स्वामी नहीं होता। कुल-कुटुम्बादि संयोगों से कोई शोभा मनाये तो धर्मी कहते हैं कि शरीर के कुल या कुटुम्ब हमारे नहीं हैं और उनसे हमारी शोभा नहीं है। हम तो केवली भगवान के कुटुम्बी हैं और सिद्ध भगवान के कुल के हैं; जैसा भगवान का आत्मा है, वैसा ही हमारा आत्मा है। भगवान की और हमारी एक ही जाति है। हम भी अपने स्वभाव में से अपना सिद्धत्व प्रगट करनेवाले हैं। आत्मा के स्वभाव की ऐसी दृष्टि प्रगट करना, वह धर्म का प्रारम्भ है।

देखो, यह मुद्दे की और समझने योग्य बात है; यह मूल बात समझे बिना अन्य उपाय करे तो

उनसे कल्याण नहीं हो सकता। जिस प्रकार कोई आदमी हिसाब मिलाने बैठे, उसमें फुटकल रकमें तो स्वीकार करे और मूल बड़ी रकम को उड़ा दे, तो वह ऋण से मुक्त नहीं हो सकता; उसी प्रकार इस आत्मस्वभाव को समझना मूल बात है। कोई जीव, दया-दानादि शुभराग की बातें तो करे और मान ले, किन्तु यदि स्वाश्रित वीतरागभाव से ही धर्म है—ऐसी आत्मस्वभाव की सच्ची समझ न करे, न माने तो वह जन्म-मरण के चक्कर से नहीं छूट सकता। पुण्य से और संयोग से लाभ होता है—ऐसी बात तो जीव को अनादिकाल से जम गई है; किन्तु चैतन्यतत्त्व, पुण्य से और संयोगों से पार है—ऐसी सच्ची समझ उसने पहले कभी नहीं की है; इसलिये उसका भवभ्रमण नहीं अटका। अरे आत्मा! अनादिकाल से चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करते हुए तेरे जन्म-मरण का अभी तक अन्त नहीं आया, तो अब ऐसा अवसर पाकर विचार कर कि आत्मा का परिभ्रमण कैसे दूर हो? और आत्मा की मुक्ति कैसे हो! यह शरीर तो राख में मिल जायेगा; यदि सत्समागम से अंतर के चैतन्यरत्न को नहीं पहिचाना तो चार गति में परिभ्रमण करने का कहीं अन्त नहीं है। इसलिये यह बात समझकर आत्मा का हित कर लेना चाहिये।●●

आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द

जो जीव धर्मी नाम रखते हैं, किंतु जिन्हें धर्मप्रसंग में
उल्लास नहीं आता, वे धर्मी नहीं हैं किन्तु मायाचारी हैं।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है; उसका निर्णय करना आनंददायक है। आत्मा के शांत स्वरूप के निर्णय बिना अनन्तकाल संसार भ्रमण में बीत गया। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा में मेरा सुख है—ऐसा अंतर्लक्ष किये बिना अनन्तबार पुण्य-पाप किये, किन्तु उसमें आत्मा का आनन्द नहीं आया। धर्म करे और आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट न हो, ऐसा नहीं हो सकता। आत्मा सुख चाहता है, किन्तु वह सुख कहाँ है ?—उसका निर्णय नहीं करता। सुख अपना स्वभाव है, उसे भूलकर बाह्य में सुख मानता है। जिसप्रकार कस्तूरी मृग की नाभि में सुगन्ध भरी है, किन्तु उसे अपना विश्वास नहीं है इसलिये इधर-उधर बाहर में भटकता है; उसी प्रकार भगवान आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनंदस्वभाव से परिपूर्ण है, किन्तु उसे भूलकर बाह्य में सुख मानकर भटकता है। धर्म कहो या अतीन्द्रिय आनंद कहो। धर्म अर्थात् चैतन्यमूर्ति आत्मा की प्रतीति करके उसमें एकाग्रता करने से अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव होता है। इसके सिवा कहीं संयोग में या पुण्य-पाप में आत्मा का आनंद नहीं है। धर्म के जिज्ञासु को सच्चे देव-गुरु-धर्म की भक्ति और बहुमान का शुभभाव आता है; किंतु मेरा सुख और धर्म तो आत्मा के स्वभाव पर अवलम्बित है—ऐसी दृष्टि की शूरता से वह च्युत नहीं होता। धर्मात्मा को धर्म की प्रभावना का भाव आये बिना नहीं रहता, किंतु वह भाव पर के कारण नहीं हुआ है। जिसप्रकार लौकिक प्रसंग में लक्ष्मी आदि खर्च करने का भाव आता है, उसीप्रकार धर्म की प्रभावना के प्रसंग में लक्ष्मी आदि का उपयोग करने का भाव जिसे नहीं आता और उसमें आलस्य करता है तथा धर्मीपने का नाम धारण करता है, वह वास्तव में धर्मी नहीं किंतु मायाचारी है। एक हजार वर्ष पहले पद्मनन्दि मुनिराज दिगंबर संत हो गये हैं, वे आत्मा के आनंदकुंड में झूलते थे। पद्मनन्दि पंचविंशतिका के दान अधिकार में वे कहते हैं कि:—

मन्दायते य इ दानविधौ धनेऽपि सत्यात्मनो वदति धर्मिकताञ्चयत्तत्।
माया हृद्रि स्फुरति सा मनुजस्य तस्य या जायते तडिदमुत्र सुखाचलेषु॥३१॥

जो मनुष्य, धन के होते भी दान देने में आलस करता है तथा अपने को धर्मात्मा कहता है, वह मायाचारी है अर्थात् उस मनुष्य के हृदय में कपट भरा हुआ है तथा उसका वह कपट दूसरे भव में उसके समस्त सुखों का नाश करनेवाला है।

—धर्म प्रसंग में धर्मी को उल्लास आये बिना नहीं रहता। ऐसा शुभभाव आये, तथापि धर्मी की दृष्टि में अंतर के चिदानन्दस्वभाव का बहुमान वर्तता है, राग का बहुमान नहीं है। प्रभु! तेरी प्रभुता, राग में या संयोग में नहीं है। पद्मनंदि मुनिराज वन-जंगल में वास करनेवाले, हाथ में ही आहार लेनेवाले निस्पृह दिगम्बर संत थे, वे करुणा से उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे जीवो! संसार के प्रसंग में पुत्र-पुत्री के विवाह में, दहेज में, मकान-वस्त्रादि में लक्ष्मी खर्च करने का भाव आता है, वह तो पापभाव है, उसकी अपेक्षा धर्मप्रसंगों में-भगवान की प्रतिष्ठादि में लक्ष्मी खर्च करने का उल्लास आना चाहिये। जो ऐसा कहता है कि मैं धर्मी हूँ—मुझे धर्म की रुचि है—किन्तु धर्म के प्रसंग में कहीं तन-मन-धन लगाने का उल्लास नहीं आता, तो आचार्यदेव कहते हैं कि उसे धर्म की रुचि ही नहीं है, वह तो मायाचारी-दंभी है। वहाँ तो अभी यह बात समझाना है कि—भाई! बाह्य संयोगों के कारण तेरा भाव नहीं होता और जो शुभभाव हुआ, उसमें भी तेरा कल्याण नहीं है। अंतर में चिदानन्दस्वभाव परिपूर्ण है; जैसे भगवान हुए वैसा ही सामर्थ्य तेरे आत्मा में भरा है, उसकी प्रतीति कर—श्रद्धा कर, तो सिद्धभगवान जैसे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हो, उसका नाम धर्म है, और वही कल्याण है। अंतर में चिदानन्दस्वरूप की ऐसी दृष्टि प्रगट होने के पश्चात् सम्यग्दृष्टि को बाह्य में स्त्री आदि का संयोग भी वर्तता हो, अमुक पुण्य-पाप के भाव भी हों, तथापि अंतर की दृष्टि में वह सब से न्यारा है। जिसप्रकार धायामाता बालक को खेलाती है किंतु उसे ऐसी बुद्धि नहीं होती कि "यह बालक मेरा है;" उसी प्रकार धर्मी बाह्य संयोगों में खड़ा दिखाई दे, किंतु धायमाता की भाँति उसे किसी संयोग में आत्मबुद्धि नहीं है; वह ऐसा नहीं मानता कि संयोग में कहीं भी मेरा सुख है। मैं स्वयं अतीन्द्रिय सुख का भण्डार हूँ, संयोग में कहीं मेरा सुख नहीं है, संयोग के प्रमाण में राग हो—ऐसा नहीं है और राग जितना मेरा आत्मा नहीं है; संयोग और राग से पार मेरा चैतन्यतत्व है—ऐसी अंतर्दृष्टि धर्मी को एक क्षण भी नहीं हटती। अज्ञानी को क्षणिक विकार की या राग की महत्ता ही भासित होती है, किंतु राग के समय अंतर में चैतन्य का अखण्ड सामर्थ्य भरा है, उसकी महत्ता भासित नहीं होती। धर्मी जानता है कि मेरे चैतन्यस्वभाव की महत्ता है, मैं ध्रुव सामर्थ्य का पिण्ड हूँ, पुण्य-पाप की वृत्तियाँ क्षणिक हैं, उनकी महत्ता नहीं है।—इस प्रकार अपने चिदानंदस्वभाव की महिमा एक क्षण भी जीव ने लक्ष में नहीं ली। विकार और संयोग होने पर भी, उससमय अंतर में स्वभावोन्मुख होकर ध्रुव ज्ञानानंदस्वभाव का निश्चय करने का नाम धर्म है। जो ऐसा धर्म करता है, उसे उसी क्षण अंतर में आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का अंश अनुभव में आता है।●●

भेद विज्ञान

[सीमंधरभगवान की वेदी-प्रतिष्ठा के समय उमराला नगरी में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन। वीर सं. २४८० जेष्ठ शुक्ला २]

अरे भाई! अनन्तकाल में ऐसा मनुष्य अवतार मिला है। यदि इसमें आत्मा का निर्णय नहीं किया तो चींटी के और तेरे अवतार में क्या अन्तर? करोड़ों रुपये खर्च करने पर जिसकी एक आँख भी न मिले—ऐसा मनुष्यभव मिला है; उसमें आत्मा का अपूर्व भान करके भव का अन्त आये—ऐसा कुछ करे तो मनुष्य अवतार की सफलता है। यदि ऐसा अपूर्व भान न किया तो चींटी को चींटी का शरीर मिला और तुझे मनुष्य का शरीर मिला—उसमें अन्तर क्या हुआ? भेदविज्ञान, मुक्ति का उपाय है; इसलिये यह मनुष्यत्व प्राप्त करके सत्समागम से भेदविज्ञान प्रगट करने का प्रयत्न करना चाहिये।

आत्मा का हित-कल्याण अनन्तकाल से क्यों नहीं हुआ, और अब वह कैसे हो?—उसकी रीति का संत—मुनियों ने आत्मा में जो अनुभव किया, वह जगत के जीवों को समझाते हैं। भेदविज्ञान के बिना जीव को अनादि से संसार परिभ्रमण हो रहा है। समयसार में तत्सम्बन्धी श्लोक कहा है कि—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किलकेचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किलकेचन॥

राग से भिन्न आत्मा का चिदानन्दस्वभाव क्या वस्तु है, उसका यथार्थ भेदज्ञान करके अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं; जो सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और उस भेदज्ञान के बिना ही जीव अनादि से संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

अंतर में आत्मा का स्वभाव स्वयं ज्ञानानन्द से भरपूर है; किन्तु उसे भूलकर, मेरा आनन्द बाह्य सुविधाओं में या राग में है—ऐसी मिथ्या मान्यता करके जीव संसार में भटकता है। यह आत्मा, देह से तो भिन्न है, और अन्तर में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह भी आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है; पुण्य-पाप तो काई जैसे मलिन हैं। जिस प्रकार पानी में ऊपर जो काई होती है, वह स्वच्छ पानी का स्वरूप नहीं है; स्वच्छ पानी तो उस काई से पृथक् है; उसीप्रकार चिदानन्दमूर्ति आत्मा अतीन्द्रिय आनंदरूपी जल से भरा है, उसमें जो पुण्य-पाप हैं, वे काई के समान हैं, वह स्वच्छ आत्मा का स्वरूप नहीं है; आत्मा तो निर्मल ज्ञानस्वरूप है—ऐसा सम्यक् आत्मभान करना,

वह धर्म और हित है; यह बोध-बीज मुक्ति का कारण है। देखो, अंतर में पात्र होकर समझना चाहें तो काछी और किसान भी समझ सकें, ऐसी बात है। जिस प्रकार किसान ''बीज'' रखकर ''अनाज'' का उपभोग करता है, उसीप्रकार जिसे धर्म करना हो, हित करना हो, उसे प्रथम भेदज्ञानरूपी बीज प्रगट करना चाहिये।

भेदज्ञान का अर्थ क्या? यह शरीर और इसकी क्रियायें तो जड़ हैं, वे आत्मा से बिलकुल भिन्न हैं। अंतर में पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्ति होती है, उससे भी पार आत्मा का स्वभाव है। उस स्वभाव में पूर्णानन्द परमात्मदशा प्रगट होने की शक्ति है; उसमें अन्तर्मुख होकर उसका विश्वास और सम्यग्ज्ञान करने का नाम भेदज्ञान है और वह मोक्ष का कारण है। देखो, बाह्य में सख्त गर्मी पड़ रही हो और ठण्डी हवा आ जाये; तो मानो उस ठण्डी हवा में सुख आता हो—ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु अनादिकाल से वह आत्मा, संसार की चार गतियों की गर्मी में तप रहा है, उसे शांति कैसे हो—इसका विचार भी नहीं करता। अंतर में शीतल चिदानन्दस्वभाव है, उसका आश्रय करे तो आत्मा की शांति प्रगट हो, किन्तु उस स्वभाव का कभी विश्वास नहीं करता। बाहर का विश्वास करता है किन्तु स्वयं अपना विश्वास नहीं करता; इसलिये संसार में परिभ्रमण होता है। जिस प्रकार लैंडी पीपर के प्रत्येक दाने में चौसठ पुटी चरपराहठ का स्वभाव भरा है; उसी प्रकार आत्मा के अपने स्वभाव में ही पूर्ण ज्ञान-आनंद का स्वभाव भरा है; किन्तु अनादिकाल में एक समय भी उसकी प्रतीति नहीं की। यदि स्वसन्मुख होकर एक क्षण भी स्वभाव की प्रतीति करे तो अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना न रहे।

आत्मा के ज्ञानानन्द का भान होने के पश्चात् भी धर्म को राग होता है। सच्चे सर्वज्ञदेव, ज्ञानी गुरु और जैन धर्म की भक्ति-प्रभावनादि का शुभभाव होता है; भगवान का मन्दिर बनवाने का और उसमें प्रतिष्ठा कराने का भाव आता है। जिस प्रकार संसार के प्रेमी को पुत्र के विवाहादि प्रसंग पर लक्ष्मी खर्च करने का उल्लास आता है; उसीप्रकार जिसे धर्म का प्रेम है, उसे धर्म के निमित्तरूप सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति भक्ति और उल्लास का भाव आये बिना नहीं रहता। जो आत्मा के पूर्णानन्दस्वभाव की साधना करके परमात्मा हो गये हैं और जो अभी उस पूर्णानन्ददशा को साध रहे हैं—ऐसे देव-गुरु के प्रति जिसे भक्ति और विनय का उत्साह नहीं आता, उसे धर्म की प्रीति नहीं है। यहाँ तो यह बतलाना है कि भेदज्ञान होने के पश्चात् भी धर्मी को भगवान की प्रतिष्ठादि का शुभभाव आता है; किन्तु भेदज्ञान के बिना अकेले शुभराग में रुका रहे तो उसे धर्म नहीं हो सकता क्योंकि धर्म तो भेदज्ञान से ही होता है। जिस प्रकार स्वर्णकार सुवर्ण और पीतल के बीच भेदज्ञान

करता है; उसी प्रकार ज्ञानी, ज्ञानस्वरूप आत्मा और रागादि विकारी भावों के बीच भेदज्ञान करता है। अहो! जो सिद्ध भगवन्त हुए, उन्हें वह सिद्धदशा कहाँ से आई? आत्मा में शक्ति थी, उसी में से वह प्रगट हुई है; वैसी ही शक्ति मेरे स्वभाव में भरी है, उसमें से मेरी परमात्मदशा विकसित होगी, किन्तु कहीं बाह्य में से या राग में से वह नहीं आयेगी।

जिस प्रकार मोर के अंडे में साढ़े तीन हाथ का मोर होने की शक्ति भरी है, उसी में से मोर बनता है। मोर के अंडे में जो मोर होने की शक्ति है, वह उसे ठोकने-बजाने से मालूम नहीं होती; इन्द्रियों द्वारा दिखाई नहीं देती; किन्तु उसके स्वभाव का निर्णय करना चाहिये कि यह अंडा, मुर्गी का नहीं किन्तु मोर का है, इसलिये इसमें से रंगबिरंगा मोर पैदा होगा। उसी प्रकार आत्मा में सिद्ध भगवान जैसी पूर्णानन्ददशा प्रगट होने की शक्ति है; अल्पज्ञदशा और राग-द्वेष वर्त रहे हैं, तथापि आत्मा में पूर्ण-ज्ञानानन्द प्रगट होने की शक्ति विद्यमान है, वह कैसे ज्ञात होती है? इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होती, राग द्वारा ज्ञात नहीं होती, किन्तु ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके स्वभाव का निर्णय करे तो आत्मा का स्वरूप ज्ञात होता है। आत्मा के स्वरूप का निर्णय करके उसका अवलम्बन लेने से परमात्मदशा प्रगट हो जाती है। इसके अतिरिक्त दूसरा जो कुछ करे, वह सब व्यर्थ है। अरे भाई! अनन्तकाल में ऐसा मनुष्य-अवतार मिला, उसमें यदि आत्मा का निर्णय न किया तो चींटी के और तेरे अवतार में क्या अन्तर? इस मनुष्य शरीर की एक आँख फूट जाने पर उसके लिये करोड़ों रुपये खर्च करे, तथापि वैसी आँख फिर नहीं होती अर्थात् करोड़ों रुपये खर्च करने पर भी जिसकी आँख भी न मिले, ऐसा यह मनुष्यभव मिला है; उसमें आत्मा का अपूर्व भान करके, जिससे भव का अन्त आ जाये, ऐसा कुछ करना चाहिये; तभी मनुष्यभव की सफलता है। यदि ऐसा अपूर्व भान न किया तो चींटी को चींटी का शरीर मिला और तुझे मनुष्य का शरीर मिला, उसमें क्या अन्तर हुआ? भेदविज्ञान के बिना किसी जीव को धर्म या मुक्ति हो जाये—ऐसा कदापि नहीं होता। शरीर मेरा, शरीर की क्रिया मेरी—इसप्रकार पर के साथ एकत्वबुद्धि रखकर कभी कोई जीव सिद्ध हो गये हों—ऐसा नहीं हो सकता। भेदविज्ञान से ही सिद्धत्व होता है।

इस जगत में अनन्तानन्त जीव हैं; उनमें से अभीतक अनंत जीव भेदज्ञान करके मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं, और भविष्य में भी जो जीव, मुक्ति प्राप्त करेंगे, वे भी भेदविज्ञान से ही प्राप्त करेंगे; भेदविज्ञान के बिना किसी भी जीव की मुक्ति नहीं होती। जिन्हें भेदज्ञान है, वे ही जीव, मुक्ति प्राप्त करते हैं और जिन्हें भेदज्ञान नहीं है, वे जीव संसार की चार गतियों में परिभ्रमण करते हैं। इसप्रकार भेदविज्ञान ही मुक्ति का उपाय है; इसलिये यह मनुष्यपना प्राप्त करके सत्समागम से भेदविज्ञान प्रगट करने का प्रयत्न करना चाहिये।●●

सम्यग्दर्शन कैसे होता है ?
और
सम्यक्त्वी की दृष्टि कैसी होती है ?

[समयसार गाथा १८१-८२-८३ पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

(वीर सं. २४८०, माघ कृष्णा ३० राजकोट)

पूर्व अनन्तकाल में जीव को एक सेकन्ड भी सम्यग्दर्शन नहीं हुआ; वह सम्यग्दर्शन कैसे होता है ? और जिसे सम्यग्दर्शन होता है, उस जीव की दशा कैसी होती है ?—उसकी यह बात है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप जैसा है, वैसा जीव कभी नहीं समझा और उससे विपरीत माना; इसलिये उसे आत्मा का सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। जैसा आत्मा का स्वरूप है, वैसा जानकर उसकी प्रतीति करे तो अपूर्व सम्यग्दर्शन होता है। वह सम्यग्दर्शन होने पर, जीव जान लेता है कि अहो! मेरा आत्मा उपयोगस्वरूप है; वह उपयोग में ही है किन्तु रागादि में नहीं है। अनादिकाल से मैंने राग को अपना स्वरूप माना, तथापि मेरा आत्मा तो राग से भिन्न सदैव उपयोगस्वरूप हो रहा है, वह कभी रागस्वरूप नहीं हुआ। देखो, यह धर्मात्मा का भेदज्ञान! आत्मा का ऐसा भेदज्ञान प्रगट करना ही धर्म की नींव है; ऐसे भेदज्ञान के बिना कभी धर्म नहीं होता।

अनन्तकाल से अपरिचित आत्मतत्त्व क्या वस्तु है, उसकी यह बात है। आत्मा कहाँ रहता होगा ?—क्या वह शरीर में रहता है ?—नहीं; शरीर तो जड़ है, उसमें आत्मा नहीं है। क्या राग में आत्मा रहता होगा ?—नहीं; राग में ज्ञान नहीं है, इसलिये आत्मा भी नहीं है। आत्मा तो अपने उपयोग में ही रहता है। आत्मा उपयोगस्वरूप है, वह उपयोग में ही है; इसलिये अंतरस्वभाव में एकता से जो निर्मल ज्ञान-दर्शनभाव प्रगट हुआ, उसमें आत्मा है—विकार में या जड़ में आत्मा नहीं है। मैं चिदानन्दस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसी अन्तर्दृष्टि करके स्वभाव में एकता करने से आत्मा अनुभव में आता है; किन्तु उस दृष्टि में क्रोधादि या कर्म अनुभव में नहीं आते; इसलिये आत्मा में वे क्रोधादि नहीं हैं। और "मैं क्रोध हूँ, मैं राग हूँ"—ऐसी क्रोधादि के साथ एकत्व की दृष्टि में क्रोधादि का अनुभव होता है—उसमें ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं होता; इसलिये उन क्रोधादि में आत्मा नहीं है।—ऐसा अपूर्व भेदज्ञान करके अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही उपयोग की एकता करना, वह मुक्तिमार्ग है।

आत्मा कैसा है?—कहते हैं, त्रिकाल उपयोगस्वरूप है। वर्तमान दशा में उसके जो क्रोधादि विकार हैं, वह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है किन्तु उसके गुणों की विपरीत दशा है। आत्मा के चिदानन्दस्वभाव का अनादर अर्थात् विकार की रुचि करना, वह क्रोध है; उस क्रोध में आत्मा नहीं है, अर्थात् रागादि से लाभ मानकर विकार के साथ एकत्वबुद्धि करनेवाले को चिदानन्दस्वरूप आत्मा लक्ष में नहीं आता। जिसे विकार की बुद्धि है, उसे भगवान आत्मा की प्रीति नहीं है, किन्तु जड़कर्म की प्रीति है; वह जीव चैतन्यस्वभाव के अनन्त गुणों का तिरस्कार करता है, वह अनन्त क्रोध है और वही महान पाप है। अनादिकालीन परिभ्रमण में एक समय भी अपने चैतन्यस्वभावोन्मुख होकर उसकी रुचि नहीं की; राग और आत्मा की भिन्नता को लक्ष में नहीं लिया। जहाँ राग और आत्मा की भिन्नता का भान हुआ, वहाँ धर्मी जीव को ज्ञाता-दृष्टा चैतन्य-स्वभाव में ही आत्मबुद्धि हुई और राग में से आत्मबुद्धि छूट गई; अब उस ज्ञानी को किसी भी राग में हित-बुद्धि नहीं रहती। राग से भिन्न चैतन्यस्वभाव का ऐसा भान करना, वह अपूर्व है। प्रथम तो यह बात जीवों को श्रवण में आना भी दुर्लभ है; पूर्वकाल में जब अनन्त बार श्रवण में आई, तब जीव ने यथार्थतया लक्षगत नहीं की। अंतर में पात्र होकर एकबार भी यदि यह बात लक्षगत करे तो अपूर्व कल्याण हुए बिना न रहे। अकेले शास्त्रों के पढ़ने से यह बात समझ में नहीं आ सकती; सत्समागम से श्रवण-मनन करके अन्तर में विशेष परिचय करे तो यह बात लक्षगत हो सकती है। पूर्वकाल में धर्म के नाम पर जीव, राग की—विकल्प की रुचि में ही अटक गया है; अंतर में राग से-विकल्प से पार चैतन्यस्वभाव को कभी लक्ष में नहीं लिया। अरे! अनन्तकाल में यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ, उसमें यह बात लक्ष में लेकर यदि अपूर्व दृष्टि प्रगट न करे तो पशु और मनुष्य के अवतार में कोई अन्तर नहीं है।

आत्मा की शक्ति में परमेश्वरत्व है; सर्वज्ञता आत्मा की शक्ति में भरी है, उसका विश्वास करना चाहिये। जबतक सर्वज्ञता प्रगट न हो, तबतक बीच में राग आता है, किन्तु उस राग में धर्मी को उपादेयबुद्धि नहीं है; राग के समय भी धर्मी को चैतन्यस्वभाव में ही उपादेयबुद्धि वर्तती है। "मैं एक समय में परिपूर्ण ज्ञातादृष्टा हूँ; राग का एक अंश भी मेरे स्वरूप में नहीं है"—इस प्रकार जहाँ अपने ज्ञायकस्वभाव का विश्वास आया, वहाँ धर्मी को पुण्य-पाप में हितबुद्धि नहीं रहती; धर्मी जीव, रागादि को अपने उपयोग में एकरूप नहीं करता; इसलिये उसके क्रोधादि नहीं हैं। राग

वर्त रहा है, तथापि उस राग में एकत्वबुद्धि नहीं है; ज्ञानस्वभाव में ही एकता है। उपयोगस्वभाव के समक्ष धर्मी, राग को अपनेरूप से देखता ही नहीं। देखो, यह धर्मात्मा का भेदज्ञान! ऐसा भेदज्ञान प्रगट करना, वह धर्मात्मा होने का उपाय है।

यहाँ आचार्यदेव ने अपूर्व रीत से भेदज्ञान समझाया है। उपयोग में उपयोग है और क्रोधादि में उपयोग नहीं है; क्रोध में क्रोध है और उपयोग में क्रोध नहीं है। उसी प्रकार कर्म या नोकर्म में उपयोग नहीं है और उपयोग में कर्म या नोकर्म नहीं है। कर्म तो पूर्वकाल में बँधा हुआ प्रारब्ध है और उसके निमित्त से बाह्य संयोग मिला, वह नोकर्म है; यह कर्म और नोकर्म दोनों उपयोग से भिन्न हैं। देखो, यहाँ ''उपयोग में कर्म-नोकर्म नहीं हैं''—ऐसा कहा, इसलिये यह तो सिद्ध हो गया कि कर्म-नोकर्म का भिन्न अस्तित्व है। कोई ऐसा कहे कि—''हमें तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि पाप का भाव करते हैं और पैसा मिलता है, इसलिये हम पूर्वजन्म या प्रारब्ध को नहीं मानते;''—तो वह मिथ्यादृष्टि नास्तिक है। अरे भाई! वर्तमान पाप से पैसा नहीं मिलता, किन्तु तेरे पूर्व प्रारब्ध से ही मिलता है। महान नास्तिक हो, तथापि पूर्व प्रारब्ध को स्वीकार करना पड़ता है—ऐसा एक दृष्टान्त लें:—एक सेठ है, वह बिलकुल नास्तिक है; पूर्व के पुण्य-पाप को नहीं मानता। उस सेठ के साठ वर्ष की उम्र में एक पुत्र उत्पन्न हुआ; पुत्र अत्यन्त सुन्दर तथा कोमल है और सेठ का प्राणों से प्यारा है। वहाँ के राजा को खबर पड़ी कि सेठ के पुत्र उत्पन्न हुआ है, इसलिये उन्होंने हर्षित होकर उसे देखने के लिये राजसभा में बुलाया। नास्तिक सेठ, पुत्र को लेकर राजसभा में आया और राजा ने पुत्र को देखा। पुत्र का सुन्दर कोमल शरीर देखकर राजा की बुद्धि भ्रष्ट हो गई और ऐसा मन हुआ कि मैं इसका शरीर काटकर खा लूँ। राजा ने अपना विचार सेठ को बतलाया। वह सुनते ही सेठ कांप उठा और बोला : ''अरे महाराज! ऐसा नहीं करना चाहिये, यह काम अच्छा नहीं!'' राजा ने कहा : ''किन्तु सेठ! यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि मुझे भूख लगी है और इसका शरीर काटकर खाने से वह शान्त हो जायेगी,—मेरा क्षुधारूपी दु:ख दूर हो जायेगा—फिर उसे अच्छा काम क्यों न कहा जाये?'' नास्तिक सेठ भी उस समय राजा से कहेगा कि —''नहीं, नहीं, राजन्! ऐसा नहीं होता। आप भले ही कहते हैं कि प्रत्यक्ष दिखाई देता है, किन्तु वह प्रत्यक्ष देखने में कुछ भूल मालूम होती है। क्षुधारूपी दु:ख दूर होने का कारण यह हिंसा नहीं हो सकती, उसका कारण कोई दूसरा ही है।''

शरीर का काटकर खाने से क्षुधा दूर हो, उसमें सचमुच वर्तमान में हिंसा का तीव्र पापभाव

है; वह पापभाव कारण और क्षुधा का दु:ख दूर होना, वह कार्य—ऐसा नहीं है। वर्तमान में तो पापभाव है, वह तो महा दु:ख का कारण है; और क्षुधा दूर हुई, वह तो पूर्वप्रारब्ध के उदय के कारण वैसी साता दिखाई देती है। वर्तमान में हिंसा का जो पापभाव है, उससे तो नये अशुभ प्रारब्ध का बंध हो रहा है और उसके फलस्वरूप जीव नरक के महा भयंकर दु:ख भोगेगा। पाप से दु:ख दूर हो—ऐसा कभी होता ही नहीं। बाह्य संयोग पूर्वप्रारब्धानुसार आते हैं। इस प्रकार पूर्व प्रारब्धकर्म का अस्तित्व बतलाया। किन्तु यहाँ तो अभी ऐसा बतलाना है कि कार्यरूपी जो प्रारब्ध है, उसमें आत्मा नहीं है और आत्मा में कर्म नहीं है। कर्म पर जिसकी दृष्टि है, उसकी दृष्टि में आत्मा नहीं है। कर्मोदय के अनुसार जीव को विकार करना पड़ता है—ऐसा जो मानता है, वह कर्म से भिन्न आत्मा को नहीं मानता किन्तु कर्म को ही आत्मा मानता है। यहाँ कर्मोदय के अनुसार विकार होता है—यह बात तो है ही नहीं; किन्तु जीव के अपराध से जो विकार होता है, वह भी वास्तव में जीव नहीं है; जीव का उपयोगस्वभाव उस विकार से भिन्न है। विकार में उपयोग नहीं है और उपयोग में विकार नहीं है;—ऐसा यहाँ भेदज्ञान कराना है।

कोई ऐसा कहे कि "शरीर निरोगी हो, पेट में खुराक बराबर हो, तो धर्म अच्छी तरह होता है;"—तो ऐसा माननेवाले की दृष्टि चैतन्यस्वभाव पर नहीं है किन्तु नोकर्म (संयोग) पर है। भाई! तेरे धर्म का कारण तेरा आत्मा है या जड़ शरीर और रोटी तेरे धर्म का कारण है? शरीर तो नोकर्म है; वह नोकर्म अनुकूल हो तो मुझे धर्म हो सकता है—ऐसी जिसकी दृष्टि है, उसने नोकर्म के साथ आत्मा की एकता मानी है—उपयोगस्वरूप आत्मा और नोकर्म का भेदज्ञान उसे नहीं है। उपयोगस्वरूप आत्मा, शरीर से अत्यन्त भिन्न है; शरीर के साथ धर्म का सम्बन्ध नहीं है। कभी-कभी धर्मात्मा को भी शरीर में रोग होता है और अधर्मी-पापी जीव का शरीर भी निरोगी होता है; किन्तु शरीर में रोग होने से साधक को अपने धर्म में शंका नहीं होती।

एक आदमी का पुत्र छोटी-सी उम्र में मर गया। पुत्र की मृत्यु के समाचार सुनकर वह बोला कि "अरे! हमारा पुत्र इतनी-सी उम्र में मर ही नहीं सकता, क्योंकि हम धर्मात्मा हैं।" देखो, साधारण लोगों को तो यह उत्तर सुनकर ऐसा लगेगा कि वाह! धर्म की कैसी नि:शंकता! किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि वह महामूढ़ है! क्या तुझमें धर्म होने से पुत्र की आयु बढ़ जायेगी? और पुत्र की आयु अल्प होने से क्या इस जीव का धर्म चला जायेगा? धर्मी जीव तो इस शरीर को भी अपने से बिलकुल भिन्न मानते हैं; तब फिर दूसरों का संयोग दीर्घकाल तक रहे या अल्पकाल तक—उसके

साथ धर्म का क्या संबंध है ? जो धर्मी होगा, उसके पुत्र की उम्र बड़ी होगी—ऐसा नहीं है। अरे! कभी स्वयं धर्मी की आयु भी अल्प होती है। दीर्घ आयु हो, तभी धर्मी कहलाते हैं—ऐसा नहीं है। आयु दीर्घ हो या अल्प हो, किन्तु जिसकी दृष्टि आयु पर है, उसे धर्म नहीं होता। धर्मी तो जानता है कि आयु मेरी नहीं किन्तु शरीर की है; शरीर जड़ है और मैं तो उपयोगस्वरूप अनादि-अनंत हूँ; अपने उपयोग के आधार से ही मुझे धर्म है।—ऐसी दृष्टि प्रगट करना, वह धर्मी होने का उपाय है।

अपूर्व आत्मशान्ति

भगवान! अनादिकाल में जो कभी प्रगट नहीं हुई—ऐसी अपूर्व शांति का वेदन कैसे प्रगट हो... सम्यग्दर्शन कैसे हो, उसकी यह बात है। भाई! अनन्तकाल का अनजान मुक्तिपंथ... वह सत्समागम के बिना समझ में नहीं आ सकता। तेरे चैतन्य में जीवनशक्ति भरी है.... आनन्द के निधान तेरी शक्ति में भरे हैं, उसके सन्मुख होकर एकबार उसकी प्रतीति कर तो अपूर्व अतीन्द्रिय शांति का अंश प्रगट हो। किसी बाह्यक्रिया के कारण या अन्तर में जो शुभपरिणाम होते हैं, उनके अवलम्बन से आत्मा की अपूर्व शांति प्रगट हो—ऐसा नहीं होता; अपने ज्ञान को अन्तर्मुख करके चिदानन्दस्वभाव को जानने से वह अपूर्व शांति प्रगट होती है।

''अवसर बार-बार नहिं आये....''

[भवभ्रमण से छूटकर आनंदस्वरूपनगरी में प्रविष्ट होने का द्वार]

यह अपूर्व आत्मज्ञान की बात है। ऐसा आत्मज्ञान जीव ने पहले कभी एक क्षण भी नहीं किया है, और वह आत्मज्ञान किये बिना कभी किसी का कल्याण नहीं होता। आत्मज्ञान के बिना भले ही शुभराग करे और पुण्य बाँधकर स्वर्ग में चला जाये, किन्तु उससे भवभ्रमण के दु:ख का अन्त नहीं आता। यह तो, अनादिकालीन भवभ्रमण के दु:ख का अन्त कैसे आये और अपूर्व आत्मसुख की प्राप्ति कैसे हो ?—उसकी बात है। अरे जीव! अनन्तकाल में दुर्लभ ऐसा यह मनुष्य अवतार प्राप्त हुआ और ऐसा सत्समागम मिला; अब यदि आत्मा की दरकार करके सत् को न समझा और आत्मज्ञान न किया तो आयु पूर्ण होने पर मनुष्य अवतार हार जायेगा। ऐसा अवसर पाकर जो जीव सत्समागम से चैतन्यस्वरूप की समझ का उद्यम नहीं करता और कहता है कि ''अभी संसार के काम (कार्य) कर लो, फिर आत्मा को समझेंगे।'' तो वह जीव उस मूर्ख के समान है जो, ''लक्ष्मी टीका करने आई हो, तब मुँह धोने जाता हो।'' जब लक्ष्मी टीका करने आई, तब मूर्ख बोला कि मैं जरा मुँह धो आऊँ। वह मुँह धोने गया कि लक्ष्मी चली गई। उसी प्रकार इस मनुष्य अवतार और सत्समागम से जब सत् समझकर भव का अंत करने का समय आया, चैतन्यलक्ष्मी को प्राप्त करने का अवसर आया, तब मूर्ख अज्ञानी जीव कहता है कि पहले मैं देश की और कुटुम्ब की व्यवस्था कर लूँ, फिर आत्मा समझ में आयेगा।—ऐसा मानकर वह इधर व्यवहार में और बाह्य में रुक जाता है और उधर जीवन पूरा हो जाने से अपूर्व समझ का सुअवसर गँवा बैठता है। इसलिये हे भाई! यह अवसर प्रमाद में गँवा देने जैसा नहीं है। चौरासी के भवचक्र में से बाहर निकलने का अवसर आया है, उसमें जो जीव ''अँधे की भाँति'' आत्मा की अवहेलना करता है, वह फिर चौरासी के चक्कर में फँस जाता है। अँधे का दृष्टान्त इसप्रकार है:—

एक अँधा था; उसे एक नगर में प्रवेश करना था। उस नगर के ईदगिर्द परकोटा था और उसमें प्रविष्ट होने का एक ही द्वार था। किसी ने अँधे से कहा कि ''देखो भाई! इस नगर के इर्दगिर्द का जो कोट (-किल्ला) है, उसे हाथ लगाये-लगाये चलते जाओ; चलते-चलते जब दरवाजा आ जाये, तब उसमें होकर नगर में चले जाना, लेकिन दरवाजा एक ही है; इसलिये बराबर ध्यान रखकर चलना।'' उसके कहे अनुसार अँधे ने कोट को हाथ लगाकर चलना शुरु किया; चलते-चलते जब दरवाजे के पास आया कि उसी समय उसके पैर में खुजली आने से उसने कोट से

लगाया हुआ हाथ ऊँचा उठा लिया और खुजलाता-खुजलाता चलने लगा—(खड़ा नहीं रहा किन्तु चलता रहा।) इतने में दरवाजा चला गया और फिर वह चक्कर में पड़ गया। उसी प्रकार यहाँ चैतन्यघनस्वरूप आत्मा, वह आनन्द का नगर है; उसमें प्रविष्ट होने के लिये सम्यग्दर्शन और सच्ची समझरूपी दरवाजा है। अनादिकाल से संसारचक्र में परिभ्रमण करते हुए अँधे जीव को अर्थात् अज्ञानी जीव को इस मनुष्य अवतार में सत्समागम से सच्ची समझ करके स्वरूपनगर में प्रविष्ट होने का समय आया और ज्ञानियों ने आत्मस्वरूप की सच्ची समझ का उपदेश देकर स्वरूपनगर में प्रविष्ट होने का द्वार बतलाया। अब, जहाँ सच्ची समझ करके स्वरूपनगर में प्रविष्ट होने का समय आया, वहाँ अज्ञानांध प्राणी सच्ची समझ करने के बदले, शरीर की खुजली में अर्थात् इन्द्रियविषयों में और राग में ही या धर्म के नाम पर व्यवहार में ही लुब्ध होकर यह अवसर गँवा बैठता है, और मनुष्य अवतार को हार कर फिर चौरासी के चक्कर में भटकता है। मैं तो ज्ञान हूँ, मेरा आनंद मेरे स्वरूप में ही है;—इस प्रकार सच्ची समझ करके चैतन्यस्वरूप में प्रवेश करे तो आनन्द का अनुभव हो और इस भवभ्रमण से छुटकारा हो। अज्ञानी जीव आनन्द के धाम—ऐसे स्वरूपनगर में प्रवेश नहीं करता-उसकी श्रद्धा ज्ञान नहीं करता और पुण्य से मेरा कल्याण हो जायेगा, अथवा अभी तो पर के कार्य कर दूँ, शरीर के कार्य कर दूँ—ऐसा मानकर मिथ्यात्व से अंध होकर यह अवसर गँवा देता है और चौरासी के चक्कर में ही परिभ्रमण करता है। चौरासी के चक्र में फिर अनन्तकाल में भी ऐसा अवसर मिलना दुर्लभ है। इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! यह अवसर प्राप्त करके अब तू सत्समागम से चैतन्यस्वरूप की समझ का मार्ग ले। चैतन्यस्वरूप आत्मा की सच्ची समझ करना ही अंतर की आनन्दस्वरूप नगरी में प्रवेश करने का द्वार है और वही इस भवभ्रमण से छुटकारे का मार्ग है; इसके सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है।

[वडाल ग्राम में पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से: वीर सं. २४८० माघ शुक्ला ९]

मुक्त जीव की वाणी में मुक्तिपंथ का उपदेश

[शांतिनाथ प्रभु द्वारा किया गया शांति का उपदेश]

[३]

मुक्त होनेवाले की ही बात

भगवान की दिव्यध्वनि का आशय भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में लगाने का है; इसलिये उसमें मुक्त होनेवाले की ही बात है। जो जीव स्वाश्रय करके मोक्षमार्ग प्रगट नहीं करता, उसके लिये वास्तव में भगवान का उपदेश है ही नहीं। जो जीव पराश्रय छोड़कर स्वाश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट करता है, वही भगवान के उपदेश को समझा है और वास्तव में उसी के लिये भगवान का उपदेश है।

अनादि से एक-एक समय करके चाहे जितने काल तक मलिनता का सेवन किया, तथापि आत्मा में तो मलिनता एक समय से अधिक गाढ़ नहीं हुई है। अशुद्धता का काल बढ़े तो उससे कहीं अनेक समय की अशुद्धता एकत्रित होकर उसकी पुष्टि हो जाये—ऐसा नहीं होता। जो अनंतकाल पूर्व सिद्ध हुए, उन आत्माओं के कम मलिनता थी; इसलिये वे सिद्ध हुए और जो वर्तमान में सिद्ध हों, उन आत्माओं को अधिक मलिनता थी; इसलिये वे पीछे सिद्ध हुए—ऐसा नहीं है। अशुद्धता का काल बढ़े तो उससे कहीं अशुद्धता की पुष्टि नहीं हो जाती, क्योंकि पहले समय की जो अशुद्धता थी, वह तो दूसरे समय अज्ञानी के भी दूर हो जाती है। पहले समय की अशुद्धता कहीं दूसरे समय में नहीं मिल जाती, दूसरे समय की अशुद्धता नवीन उत्पन्न होती है; इस प्रकार नई-नई अशुद्धता का काल बढ़ता है, किन्तु दो समय की अशुद्धता एकत्रित होकर एक समय की पर्याय में उसकी उग्रता की पुष्टि हो—ऐसा नहीं होता; और एक समय की पर्याय की अशुद्धता कहीं द्रव्य-गुण को अशुद्ध कर डाले—ऐसा भी नहीं होता। द्रव्य-गुण तो सर्व आत्माओं के त्रिकाल शुद्ध ही है, मात्र पर्याय में अशुद्धता है। भगवान की वाणी, द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप बतलाकर, द्रव्य के अवलम्बन से पर्याय की अशुद्धता का नाश करना बतलाती हैं। धर्मी जानता है कि मेरे त्रिकाल ध्रुव रहनेवाले पवित्र स्वभाव के निकट एक समय की पर्याय के विकार का जोर नहीं है; ध्रुवस्वभाव के सामर्थ्य की महत्ता के निकट रागादि विकार की महत्ता नहीं किन्तु तुच्छता है। इस प्रकार स्वभाव की महत्ता और विकार की तुच्छता भासित होने पर, ज्ञानी को उस विकार में से

आत्मबुद्धि छूट जाती है। स्वभावदृष्टि से मेरे आत्मा में विकार है ही नहीं; इसलिये मैं विकार का कर्ता नहीं हूँ; मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ—इस प्रकार पहिचानकर विकाररहित स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना, वह धर्मी आत्मा का कार्य है, उसके द्वारा धर्मी जीव पहिचाना जाता है, और भगवान के उपदेश का भी यही तात्पर्य है।

सर्वज्ञ भगवान ने दिव्यध्वनि में जो कहा, वही बात श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार में बतलाई है और वही यहाँ कही जाती है। जो जीव पात्र होकर यह बात समझेंगे, वे अवश्य ही अल्पकाल में मुक्त हो जायेंगे... और जो नहीं समझेंगे, वे तो अनादि काल से भटक ही रहे हैं, इसलिये उनकी क्या बात की जाये? जगत में संसार, मोक्ष और मोक्ष का मार्ग—सब अनादि-अनन्त हैं, उसमें से एक का भी कभी सर्वथा अभाव नहीं होगा। हाँ, एक जीव अपने आत्मा में से संसार का अभाव करके मोक्षदशा प्रगट करता है, उसकी अपेक्षा से संसार का अंत और मोक्ष का आदि है। जो जीव चैतन्यतत्व को समझे, उसकी मुक्ति हो जाती है। यहाँ भटकने की बात ही नहीं है। भगवान की वाणी, जीवों को मोक्षमार्ग बतलानेवाली है;—दूसरी तरह से कहा जाये तो अनादि काल से जिस विपरीत भाव से संसार में भटका है, उसकी कुलाँट मारकर जो जीव, मोक्षमार्ग का सीधा भाव प्रगट करे, उसी ने भगवान की वाणी झेली है।

अहो! चैतन्य की महिमा और धर्मात्मा की निर्मानता

दिव्यध्वनि में निमित्तरूप ही ऐसे रजकण साधक अवस्था में ही बँधते हैं और उनका बंध होते समय जीव को बिल्कुल निर्मानता होती है; उसे अंतर में चैतन्य भगवान की महिमा भासित हुई है, इसलिये पर में कहीं अभिमान नहीं होता। मान के विकल्प को ज्ञानी अपना कार्य नहीं मानते। देखो, तीर्थंकर नामकर्म का बंध किसे होता है?—अज्ञानी को नहीं बँधता। अज्ञानी तो चैतन्य की महिमा को चूककर प्रतिक्षण जगत के पदार्थों का अभिमान करता है। ज्ञानी अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को जानते हैं और मान को अपना नहीं मानते। अपने चिदानंदस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कहीं उन्हें स्वामित्व नहीं है; इसलिये जगत से मान लेने की भावना नहीं होती। अहो! मेरे अनन्त चैतन्यस्वभाव का मान मेरे ही निकट है; जगत के पदार्थों में मेरा मान नहीं है; जगत में सर्वोत्कृष्ट बहुमान के योग्य मेरा आत्मा ही है, किसी पर के कारण मेरे आत्मा की महिमा नहीं है, मेरी महिमा अपने स्वभाव से ही है।—इसप्रकार निजस्वभाव की महिमा के बल से मान का नाश होकर निर्मानता हो गई और निर्मल स्वरूप में समाते-समाते कुछ राग शेष रह गया, वहाँ उन धर्मात्मा को

ऐसा तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो जाता है कि त्रिभुवन नाथ हो जाये और इन्द्र उनके चरणों में मस्तक झुकाये। जो मान माँगता है, उसे नहीं मिलता। अज्ञानी पर का अभिमान करता है और पर से अपना बड़प्पन मानता है, उसे तीर्थंकर नामकर्म का बंध नहीं होता। सच्चा मान तो अपने परिपूर्ण स्वभाव की भावना करने में ही है, ज्ञानी को चैतन्यस्वभाव की महिमा के निकट पर का अहंकार उड़ गया है, वे तीन लोक के नाथ होते हैं।

धर्मात्मा का धर्मकर्तव्य

'मेरे स्वभाव की ओर उन्मुख होकर जो पर्याय अभेद हुई, उसका मैं कर्ता हूँ और वह निर्मल पर्याय मेरा कर्म है; विकार वास्तव में मेरा कर्म नहीं है, तब फिर जड़ की क्रिया तो मेरा कर्म (कार्य) कहाँ से हो? मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्ता और निर्मलपर्याय मेरा कर्म, उसका साधन भी मैं ही हूँ, संप्रदान नाम के साधन भी मैं ही हूँ, और अपादान तथा अधिकरण साधन भी मैं ही हूँ; परमार्थतः द्रव्यपर्याय की अभेदता में तो कर्ता-कर्मादि भेद के विकल्प भी नहीं हैं,—मैं एक अखण्ड ज्ञायक हूँ।'—इसप्रकार धर्मी की दृष्टि अपने अभेद स्वभाव में पड़ी है, और उस दृष्टि में निर्मल-निर्मल पर्यायें होती जाती हैं, वह धर्मी का धर्मकर्तव्य है। आत्मा के धर्मकर्तव्य में बाहर का कोई साधन नहीं हैं।

धर्मी और अधर्मी जीव की मान्यता में महान अन्तर

धर्मी को शुभराग के समय देव-गुरु-शास्त्र के बहुमान का भाव आता है किन्तु उस समय भी उसे स्वभाव का बहुमान दूर नहीं होता; उसे भान है कि मुझे परपदार्थों के कारण यह शुभराग नहीं हुआ है, और दृष्टि में उसे राग का कर्तृत्व नहीं रहा है। पर्यायदृष्टिवाला अज्ञानी जीव, देव-गुरु-शास्त्रादि पर को देखकर उनके कारण बहुमान का भाव होना मानता है; देव-गुरु-शास्त्र अच्छे हैं, इसलिये मुझे उनके बहुमान का राग होता है—ऐसा मानकर वह राग करता है; इसलिये वह अपने स्वभाव का बहुमान चूक जाता है। उसे स्वभावदृष्टि न होने से वह राग को ही अपना स्वरूप मानकर उसका कर्ता होता है और उस राग को धर्म का साधन मानता है,—उसे भगवान ने मिथ्यादृष्टि कहा है। देव-गुरु-शास्त्र तो जगत में सदैव हैं; यदि उनके कारण राग होता हो तो सदैव राग होता ही रहे। पर के कारण मुझे राग होता है—ऐसा जिसने माना, उसके अभिप्राय में राग सदैव बना ही रहता है; पर से विमुख होकर उसे स्व में स्थिर होना नहीं रहता, यानी उसे धर्म नहीं होता। राग तो धर्मी को भी होता है, परन्तु वह जानता है कि यह राग मेरी पर्याय की कचास से होता है, मेरी

पर्याय में से अभी राग होने की योग्यता सर्वथा दूर नहीं हुई है; इसलिये राग होता है; पर के कारण राग होता नहीं है और मेरे स्वभाव में भी राग नहीं है; मेरा चिदानन्दस्वरूप रागरहित है, उसमें एकाग्रता से पर्याय की सबलता होने पर राग दूर हो जायेगा। इसप्रकार धर्मी को अपनी परिपूर्ण स्वभाव की ही भावना है, पर की या राग की भावना नहीं है। इसप्रकार धर्मी और अधर्मी जीव की मान्यता में महान अन्तर है।

कल्याण का मार्ग

शांतिनाथ भगवान की दिव्यध्वनि कहती है कि हे भाई! तू भावना तो स्वभाव की ही कर। स्वभाव की भावना करने के लिये पहले यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्णय कर। यथार्थ वस्तुस्थिति को जाने बिना मिथ्यात्वादिक भावों को ही अनादिकाल से भाया है, किन्तु चैतन्यस्वभाव के सन्मुख होकर सम्यक्दर्शनादि भावों का सेवन कभी नहीं किया है; यदि एक बार भी सम्यक्दर्शनादि भावों का सेवन करे तो अल्पकाल में मोक्ष हुए बिना न रहे। परद्रव्य मुझे लाभदायी है, अथवा परद्रव्य मेरे राग का कारण है और राग से मुझे धर्म होगा—ऐसी मान्यता मिथ्यात्वभाव की ही भावना है। यदि वास्तव में परवस्तु ही मेरे राग का कारण हो, तो परवस्तु ही राग की खानि हुई; और ऐसा होने से तो परवस्तु त्रिकाल होने के कारण राग त्रिकाल होता ही रहेगा, इसलिये राग दूर होकर कल्याण होने का प्रसंग ही नहीं रहेगा!—इसलिये अपना यह अभिप्राय छोड़ और ऐसा समझ कि पर के कारण राग नहीं होता किन्तु अपनी पर्याय के अपराध से ही राग होता है।—और यदि राग से धर्म हो, तब तो आत्मा रागरूप ही सिद्ध हुआ, इसलिये उस मान्यता में भी राग को दूर कर के कल्याण होने का प्रसंग नहीं रहता।—इसलिये हे जीव! राग से धर्म होने की बुद्धि छोड़ और ध्रुव चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा कर। चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शनादि भाव प्रगट होते हैं—वही लाभ का कारण है और वही धर्म है—ऐसा तू समझ।—यही तेरे कल्याण का मार्ग है।

राग का कारण कौन है ?

हे जीवो! तुम्हारा चैतन्यस्वभाव सिद्धभगवान जैसा शुद्ध है। वह स्वभाव, राग का कारण नहीं है और कोई परवस्तु भी राग का कारण नहीं है—ऐसा वस्तुस्वरूप समझकर चैतन्यस्वभाव की भावना करो। इसे समझे बिना पाण्डित्य या त्यागीपना-सब 'अरण्यरोदन' के समान मिथ्या है, उससे कदाचित् पुण्यबंध होगा, किन्तु उसमें आत्मा की शरण नहीं है; उससे आत्मा का कल्याण या शांति नहीं होती।

ज्ञानी धर्मात्मा को पर्याय की निर्बलता से अल्प रागादि होते हैं, किन्तु वे चैतन्यस्वभाव की भावना छोड़कर कभी राग की भावना नहीं करते, यानी वे पर्याय के राग को द्रव्यस्वभाव में स्वीकार नहीं करते, और परवस्तु को राग का कारण नहीं मानते।—ऐसा होने से ज्ञानी के राग के पीछे अभिप्राय का बल टूट गया है, इसलिये वह राग अपंग हो गया है; चैतन्य की अधिकता में राग की अधिकता नहीं होती। जो जीव, राग के यथार्थ कारण को नहीं समझता और परद्रव्य को राग का कारण मानता है, उस अज्ञानी के तो राग के पीछे विपरीत अभिप्राय का बल होने से अनन्त राग है, चैतन्य की अधिकता का उसे भान नहीं है। यथार्थ वस्तुस्थिति के भान बिना अनंत राग दूर हो ही नहीं सकता।

सर्वज्ञ भगवान की भक्ति का, जिनमंदिरादि की रचना का शुभराग हो, वह अलग बात है, किन्तु वहाँ समझना चाहिये कि इस राग का कारण वास्तव में भगवान या जिनमन्दिरादि परद्रव्य नहीं है। यदि वास्तव में वे ही राग के कारण हों तो सर्व जीवों को उस प्रकार का राग होना चाहिए और केवली को भी राग होना चाहिए।—लेकिन ऐसा नहीं होता, इसलिये परद्रव्य, राग का कारण नहीं है, किन्तु जिन जीवों की पर्याय में उस प्रकार का राग होने की योग्यता है, उन्हीं को वैसा राग है और वैसे राग के समय उन निमित्तों पर लक्ष जाता है। इस प्रकार अपनी पर्याय की योग्यता के अतिरिक्त अन्य कोई कारण है ही नहीं, अन्य जो भी कारण कहे जाते हों, वे सब मात्र उपचार से ही हैं—ऐसा समझना।

'श्री महावीर भगवान की उपस्थिति के कारण गौतमस्वामी को राग था, और भगवान का निर्वाण होने से वह राग दूर हो गया'—यह मान्यता अज्ञानी की है। वास्तव में गौतमस्वामी को महावीर भगवान के कारण राग नहीं था, किन्तु उनकी अपनी उतनी निर्बलता से राग रहा था और सबलता से वह दूर हो गया। और अपने निर्वाण के समय भगवान ने गौतम स्वामी को दूर भेज दिया, और बाद में गौतम स्वामी ने विलाप किया;—यह बात भी कल्पित और मिथ्या है। अहो! गौतम गणधर कौन हैं! वे तो केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारीवाले महान संत हैं; उनके कहीं रुदन हो सकता है? अनन्त आनन्द का धाम ऐसी मुक्ति के साधक मुनि परम प्रसन्न होते हैं, उनके कभी रुदन होता ही नहीं। और वह किसी के रुदन पर उपदेश देने के लिये जाता नहीं।

दिव्यध्वनि में मुक्ति पथ का ढँढ़ेरा

दुंदुभिनाद के बीच भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसी घोषणा हुई कि जगत में प्रत्येक द्रव्य

स्वतंत्र हैं; उसके गुण स्वतंत्र हैं और उसकी पर्यायें भी स्वतंत्र हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता समझकर, पर्याय अन्तर्मुख होकर अपने द्रव्य का आश्रय ले, वही मुक्ति का पंथ है; इसके अतिरिक्त कहीं बाह्य आश्रय से मुक्ति का पंथ नहीं है। सर्व मुनि और अरिहंत भगवंत इसी प्रकार मुक्ति को प्राप्त हुए और ऐसे ही मोक्षमार्ग का उन्होंने जगत को उपदेश दिया। जिस प्रकार भगवान, मोक्ष को प्राप्त हुये; उसी प्रकार उनकी वाणी में कथित मोक्षमार्ग समझकर जगत के जीव मोक्ष प्राप्त न करें—ऐसा नहीं हो सकता। द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता समझने से निर्विकारी द्रव्य-गुण के आश्रय से पर्याय का विकार दूर होकर निर्मलानन्दी सदा सर्व समाधानरूप मुक्तदशा हो जाती है। जो समझकर स्वाश्रय करे, वह अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। जो समझे, उसकी बलिहारी है... न समझे उसकी यहाँ बात नहीं है।

दिव्यध्वनि मुक्तजीव की वाणी है और उसका फल मुक्ति है। समवशरण में भगवान का उपदेश सुनकर उस काल अनेक जीव मुनि हुए... श्रावक हुए... धर्म को प्राप्त हुए। वर्तमान में भी उस वाणी के प्रवाह से जीव धर्म प्राप्त करते हैं और भविष्य में भी अनेक जीव धर्म प्राप्त करेंगे।—इस प्रकार शान्तिनाथ भगवान का बतलाया हुआ शान्ति का मार्ग शाश्वत है। ●●

'हे नाथ! मैं आपके पदचिह्नों का अनुसरण करता चला आ रहा हूँ।'

''अहो नाथ! अंतरशक्ति के अवलम्बन से आप सर्वज्ञ हुए और हमें वह मार्ग बतलाया। हे नाथ! आपकी प्रसन्नता से मैं भी आपके ही मार्ग पर चला आ रहा हूँ... हे भगवान! आपकी प्रसन्नता प्राप्त करके मैंने आत्मबोध प्राप्त किया... हे प्रभु! मैं भी आपके पद-पद पर चला आ रहा हूँ...''

—अपने सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति करके भगवान के भक्त कहते हैं कि—''हे भगवान! आप तो आत्मा के अतीन्द्रिय परम आनन्द के पूर्ण भोक्ता हो गये हैं और हमारे लिये भी आप थोड़ा प्रसाद रखते गये हैं... हे भगवान! आपकी प्रसन्नता से हमें भी आपके अतीन्द्रिय आनन्द का प्रसाद प्राप्त हुआ है।''

[— दीपोत्सवी प्रवचन से]

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का
अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	सम्यग्दर्शन	२)
श्री मुक्तिमार्ग	।।=)	समयसार सटीक	१०)
श्री अनुभवप्रकाश	।।)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	।।।)		
समयसार प्रवचन भाग २	५।)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार प्रवचन भाग ३	४।।)	अध्यात्म पाठसंग्रह	५)
प्रवचनसार	५)	समयसार पद्यानुवाद	।)
अष्टपाहुड़	६)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)॥)
चिद्विलास	१=)	स्तोत्रत्रयी	।।)
आत्मावलोकन	१)	लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	=)
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण	१।=)	आत्मधर्म–मासिक लवाजम–	३)
दसलक्षणधर्म	।।।)	आत्मधर्म फाइल वर्ष १–२–३	
जैन बालपोथी	।)	५–६–७–८–१०	३।।।)

हिन्दी आत्मधर्म की फाईलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७, ८, १० यह आठ फाईलें एक साथ लेनेवालों को ३०–०–० के बदले २०–०–० में दी जायेंगी।

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी